अर्धमागधी भाषा का उद्भव एवं विकास

प्रो. सागरमल जैन

भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषा में पाये जाते हैं। वैदिक परम्परा का साहित्य विशेष रूप से वेद, उपनिषद आदि संस्कृत भाषा में निबद्ध है, किन्तु वेदों की संस्कृत आर्ष संस्कृत है, जिसकी प्राकृत एवं पालि से अधिक निकटता देखी जाती है। मूलतः संस्कृत एक संस्कारित भाषा है। उस युग में प्रचलित विविध बोलियों (डायलेक्ट्स) का संस्कार करके सभ्यजनों के पारस्परिक संवाद के लिए एक आदर्श साहित्यिक भाषा की रचना की गई, जो संस्कृत कहलायी। संस्कृत सभ्य वर्ग की भाषा बनी। भिन्न-भिन्न बोलियों को बोलने वाले सभ्य वर्ग के मध्य अपने विचारों के आदान-प्रदान का यही माध्यम थी। इस प्रकार संस्कृत भाषा की संरचना विभिन्न बोलियों के मध्य एक सामान्य आदर्श भाषा (Common Language) के रूप में हुई। उदाहरण के लिए आज भी उत्तर भारत के हिन्दीभाषी विविध क्षेत्रों में अपनी-अपनी बोलियों का अस्तित्व होते हुए भी उनके मध्य एक सामान्य भाषा के रूप में हिन्दी प्रचलित है, यही स्थिति प्राचीन काल में विभिन्न प्राकृत बोलियों के मध्य संस्कृत भाषा की थी। जैसे आज हिन्दीभाषी क्षेत्र में साहित्यिक हिन्दी और विभिन्न क्षेत्रीय बोलियाँ साथ-साथ अस्तित्व में है, उसी प्रकार उस युग में संस्कृत एवं विभिन्न प्राकृतें साथ-साथ अस्तित्व में रही हैं। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मूलतः प्राकृतें बोलियाँ हैं और संस्कृत उनके संस्कार से निर्मित साहित्यिक भाषा है। भारत में बोलियों की अपेक्षा प्राकृतें और संयोजक संस्कारित साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत प्राचीन है, इसमें किसी का वैमत्य नहीं है। प्राकृतें संस्कृत को अपभ्रष्ट करके बनी, यह एक भ्रान्त अवधारणा है।

पुनः कालक्रम में इन क्षेत्रीय बोलियों या प्राकृतों ने भी साहित्यिक भाषा का स्वरूप ग्रहण किया। इसमें सर्वप्रथम अभिलेखीय प्राकृत अस्तित्व में आई। चूंकि अभी तक पठित अभिलेखों में अशोक के अभिलेख ही प्राचीनतम माने जाते हैं, - इनकी जो भाषा है वही अभिलेखीय प्राकृत है।

इनकी भाषा मुख्यत: मागधी प्राकृत के निकट है, किन्तु अशोक के अभिलेखों की प्राकृत मागधी के निकट होते हुए भी, वे अभिलेख जिन-जिन क्षेत्रों में खुदवाये गये, उनमें वहां की क्षेत्रीय प्राकृत बोलियों के शब्दरूप भी क्वचित रूप से आ गये हैं, यह मागधी के अर्धमागधी बनने के इतिहास का प्रारम्भिक चरण था। जिन-जिन लोकबोलियों का रूपान्तर साहित्यिक प्राकृत में हुआ उनमें मागधी का स्थान प्रथम है - क्योंकि उसमें न केवल अशोक के अभिलेख लिखे गये अपितु वह बौद्ध त्रिपिटकों की पाली और जैन आगमों की अर्धमागधी का आधार भी रही है ।

अभिलेखीय प्राकृत में दूसरा स्थान खारवेल के अभिलेख (ई.पू. प्रथम शती) का और तीसरा स्थान मथुरा के जैन अभिलेखों (ई.की. १-३री शती) का आता है । आश्चर्य यह है कि ईस्वी सन् की तीसरी शती तक का कोई भी अभिलेख संस्कृत भाषा में नहीं लिखा गया। मथुरा के कुछ जैन अभिलेखों में क्वचित संस्कृत शब्द रूप देखे जा सकते हैं, किन्तु कोई भी अभिलेख न तो शुद्ध संस्कृत में है और न मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' को प्रधानता देने वाली शौरसेनी प्राकृत में मिला है। उनमें शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में प्रचलित 'न' के स्थान पर सर्वत्र 'ण' का भी अभाव परिलक्षित होता है और न महाराष्ट्री प्राकृत की लोप की 'य' श्रुति ही मिलती है । मुख्य बात यह है कि अशोक के काल में राज्यभाषा के रूप में मागधी प्राकृत को ही प्रधानता मिली थी। अत: उसका प्रभाव ईसा की दूसरी तीसरी शती तक बना रहा । इतना सुनिश्चित है कि इसी मागधी को संस्कृत के सन्निकट लाने के प्रयत्न में पाली का विकास हुआ - जिसमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य आज भी उपलब्ध है । उसी मागधी के सरलीकरण के प्रयास में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के शब्द-रूपों के मिश्रण से आचारांग और इसिभासियाइं जैसे प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगमों की रचना हुई ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अर्धमागधी आगम साहित्य की पाटलीपुत्र (नन्दवंश की समाप्ति और मौर्ययुग के प्रथम चरण अर्थात् वीरनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष पश्चात्) की और खारवेल की कुम्हारी पर्वत (ई.पू. प्रथम शती) की वाचना में उनका अर्धमागधी स्वरूप स्थिर रहा, किन्तु ईसा की तृतीय शती

में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में सम्पन्न वाचना में वहां की क्षेत्रीय भाषा शौरसेनी का प्रभाव उस पर आया और इसे माथुरी वाचना के नाम से जाना गया । ज्ञातव्य है कि यापनीय और दिगम्बर अचेल परम्परा के ग्रन्थों में जो भी आगमिक अंश पाये जाते हैं, वे जैन शौरसेनी के नाम से ही जाने जाते हैं क्योंकि इनमें एक ओर अर्धमागधी का और दूसरी ओर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव देखा जाता है। अचेल परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थों की भाषा विशुद्ध शौरसेनी न होकर अर्धमागधी और महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी है और इसीलिए इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है ।

इस प्रकार मगध (मध्य बिहार) एवं समीपवर्ती क्षेत्रों की और शौरसेन प्रदेश (वर्तमान पश्चिमी उत्तरप्रदेश और हरियाणा) की क्षेत्रीय बोलियों से साहित्यिक प्राकृत भाषा के रूप में क्रमशः अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत का विकास हुआ । अर्धमागधी जब पश्चिमी भारत और सौराष्ट्र में पहुँची, वह शौरसेन प्रदेश से होकर ही वहां तक पहुँची थी । अतः उसमें क्वचित शब्दरूप शौरसेनी के आ गये । पुनः मथुरा की वाचना के समकालिक वलभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में जो वाचना हुई उसमें, और उसके लगभग १५० वर्ष पश्चात् पुनः वलभी में (वीर निर्वाण संवत् ९८०) में जो वाचना होकर आगमों का सम्पादन एवं लेखन कार्य हुआ, उस समय उनमें, वहां की क्षेत्रीय बोली महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आया । इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य क्वचित रूप से शौरसेनी और अधिक रूप में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुआ । फिर भी ऐसा लगता है कि निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकाल तक (ईसा की द्वितीय शती से सातवीं शती तक) उसके अर्धमागधी स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी हुआ है । चूर्णिगत 'पाठों' में तथा अचेल परम्परा के मूलाचार, भगवती आराधना तथा उसकी अपराजित सूरि की टीका, कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि और उनकी टीकाओं में ये अर्धमागधी रूप आज भी देखे जाते हैं । उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का वर्तमान 'रामगुत्ते' पाठ, जो मूल में 'रामपुत्ते' था, चूर्णि में 'रामाउत्ते' के रूप में सुरक्षित है ।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि मागधी कैसे अर्धमागधी बनी और फिर उस पर शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव कैसे आया ? इन प्राकृत

भाषाओं के कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मागधी में आसपास की क्षेत्रीय बोलियों के प्रभाव से साहित्यिक प्राकृत के रूप में अर्धमागधी का उद्भव एवं विकास हुआ । इसके पश्चात् शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें भी साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई । जहां तक मागधी या प्रारम्भिक अर्धमागधी का प्रश्न है, उसके साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक (अभिलेखीय) दोनों प्रमाण उपलब्ध है, जो ई.पू. तीसरी-चौथी शताब्दी तक जाते हैं, किन्तु जहाँ शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रश्न है, उसके मात्र साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं, जो अधिकतम ईसा की द्वितीय शती से पांचवी के मध्य के हैं, उसके पूर्ववर्ती नहीं है । यद्यपि बोली के रूप में प्राकृतें अनेक रही हैं, उनमें संस्कृत के समान एकरूपता नहीं है । संस्कृत के दो ही रूप मिलते हैं, आर्ष और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत। जबकि प्राकृतें अपने बोलीगत विभिन्न रूपों के कारण अनेक प्रकार की हैं। विविध प्राकृतों का एक अच्छा संग्रह हमें मृच्छकटिक नामक नाटक में मिलता है । किन्तु प्रस्तुत आलेख में मैंने उन सबका उल्लेख न करके जैन साहित्य के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए अर्द्धमागधी, जैन शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत का ही उल्लेख किया है और साथ ही काल क्रम में उनके विकासक्रम का भी उल्लेख किया है । यद्यपि कुछ अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान और अफगानिस्तान की पैशाची प्राकृत भी प्राचीन प्राकृत रही है । किन्तु कुछ अभिलेखों और नाटकों में प्रयुक्त उसके कुछ शब्दरूपों के अतिरिक्त उस सम्बन्ध में अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है । जहां तक प्राकृत धम्मपद का प्रश्न है वह उससे प्रभावित अवश्य लगता है, किन्तु वह विशुद्ध पैशाची का ग्रन्थ है, यह नहीं कहा जा सकता है ।

सामान्य रूप से प्राकृत भाषा के क्षेत्र की चर्चा करनी हो तो समस्त योरोपीय क्षेत्र एक समय में प्राकृतभाषी क्षेत्र रहा है । आज भी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालवी आदि वर्तमान यूरोपीय भाषाओं तथा प्राचीन ग्रीक, लेटिन आदि में अपने उच्चारणगत शैलीभेद को छोड़कर अनेक शब्दरूप समान पाये जाते हैं । मैंने कुछ अर्धमागधी प्राकृत शब्दरूपों को वर्तमान अंग्रेजी में भी खोजा है, जैसे - बोंदी = बाडी, आउट्टे = आउट, नो = नो, दार = डोअर, भातर = ब्रदर आदि - जो दोनों में समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

प्रो. भायाणी और अन्य अनेक भाषावैज्ञानिकों ने इण्डो–आर्यन भाषाओं को तीन भागों में बांटा है। Old Indo-Aryan Languages, Middle Indo-Aryan Languages और Later Indo-Aryan Languages। उनके अनुसार प्राचीन भारोपीय आर्य भाषाओं में मुख्यत: ऋग्वेद एवं अवेस्ता की भाषाएं आती हैं। मध्यकालीन भारोपीय भाषाओं में विभिन्न प्राकृतें और लेटिन, ग्रीक आदि भाषाएं समाहित हैं। भाषा–वैज्ञानिकों ने मध्यकालीन इन भाषाओं को पुन: तीन भागों में वर्गीकृत किया है – १. प्राचीन मध्यकालीन भाषाएं, २. मध्य मध्यकालीन भाषाएं और ३. परवर्ती मध्यकालीन भाषाएं। इनमें प्राचीन मध्यकालीन भाषाओं में अशोक एवं खारवेल के अभिलेख की भाषाएं, पालि (परिष्कृत मागधी), अर्धमागधी, गान्धारी (प्राचीन पैशाची) एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषाएँ समाविष्ट होती हैं। जहां तक मध्य मध्यकालीन भाषाओं का प्रश्न है, उस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें यथा मागधी, शौरसेनी, प्राचीन महाराष्ट्री, परवर्ती साहित्यिक महाराष्ट्री तथा पैशाची आती हैं। ज्ञातव्य है कि नाटकों की शौरसेनी और महाराष्ट्री की अपेक्षा जैन ग्रन्थों की शौरसेनी एवं महाराष्ट्री परस्पर एक दूसरे से और किसी सीमा तक परवर्ती अर्द्धमागधी से प्रभावित है। जब मैं यहाँ परवर्ती अर्धमागधी की बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य क्वचित् शौरसेनी एवं अधिकांशत: महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित अर्धमागधी से है, जो कुछ प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों यथा आचारांग, इसिभासियाइं आदि के प्राचीन पाठों को छोड़कर वर्तमान में उपलब्ध अधिकांश अर्धमागधी आगमों एवं उनकी प्राकृत व्याख्याओं तथा पउमचरियं आदि में उपलब्ध है। यद्यपि अर्धमागधी के कुछ प्राचीन पाठ ११वीं–१२वीं शती तक की हस्तप्रतों तथा भाष्य या चूर्णि के मूल पाठों में सुरक्षित है। संस्कृत मिश्रित प्राकृत में रचित चूर्णियों (७वीं शती) की भाषा में भी कुछ प्राचीन अर्धमागधी का रूप सुरक्षित है। प्रो. के.आर.चन्द्रा ने प्राचीन हस्तप्रतों, चूर्णिपाठों तथा अशोक और खारवेल के अभिलेखों के शब्दरूपों के आधार पर आचारांग के प्रथम अध्ययन का प्राचीन अर्धमागधी स्वरूप स्पष्ट किया है। जहां तक मध्यकालीन परवर्ती भारतीय आर्यभाषाओं का प्रश्न है, वे विभिन्न अपभ्रंशों के रूप में उपलब्ध हैं। इसके पश्चात आधुनिक युग की भाषाऐं आती हैं, यथा–हिन्दी, गुजराती, मराठी, पंजाबी, बंगला, मैथिल आदि।

इनका जन्म विभिन्न प्राकृतों से विकसित विभिन्न अपभ्रंशों से ही हुआ है ।

अब जहां तक प्राचीन अर्धमागधी के स्वरूप का प्रश्न है, उसके अधिकांश शब्दरूप अशोक एवं खारवेल के शिलालेखों तथा पालि त्रिपिटक के समकालिक हैं । डॉ. शोभना शाह ने आचारांगसूत्र की अर्धमागधी के शब्द-रूपों की खारवेल के अभिलेख से तुलना की है । उन्होंने बताया है कि - मध्यवर्ती 'त' का अस्तित्व आचारांग में ९९.५ प्रतिशत है और खारवेल के अभिलेख में १०० प्रतिशत है । मध्यवर्ती 'त' का 'य' (महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण) आचारांग में मात्र ०.५ प्रतिशत है । खारवेल के अभिलेख में उसका प्रायः अभाव है । मध्यवर्ती 'त' का 'द' जो कि शौरसेनी प्राकृत का प्रमुख लक्षण है - उसका आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः अभाव है, जबकि कुन्दकुन्द के प्रवचनसार जैसे ग्रन्थ में वह ९५ प्रतिशत है । मध्यवर्ती 'ध' का 'ध' रूप आचारांग और खारवेल के अभिलेख में प्रायः शतप्रतिशत है । जबकि प्रवचनसार में मात्र ५० प्रतिशत है । ये और इस प्रकार के भाषिक परिवर्तनों से यह सिद्ध होता है कि अर्धमागधी के प्राचीन शब्दरूप प्रायः अशोक एवं खारवेल के अभिलेखों में मिल जाते हैं, जबकि शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दरूपों का उनमें अभाव है । अतः यह ई.पू. की अभिलेखीय प्राकृत और अर्धमागधी में अधिक समरूपता है । अर्धमागधी का विकास मागधी और मगध के समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों के शब्दरूप के मिश्रण से हुआ है । शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतों का विकास भी उन क्षेत्रों की क्षेत्रीय बोलियों से हुआ होगा, इसमें तो सन्देह नहीं है, किन्तु इन्हें साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता लगभग ईसा की ३री या चौथी शती में मिल पायी है। क्योंकि ई.पू. प्रथम शती से लेकर ईसा की २री शती तक के मथुरा से उपलब्ध अभिलेखों में शौरसेनी या महाराष्ट्री के लक्षणों का प्रायः अभाव है, जबकि उन पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । यदि शौरसेनी साहित्यिक प्राकृत के रूप में उस काल में प्रतिष्ठित होती तो उसके मुख्य लक्षण मध्यवर्ती 'त' का 'द' तथा इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री दोनों का विशेष लक्षण 'न' का सर्वत्र 'ण' कहीं तो मिलना था । जबकि अशोक, खारवेल और मथुरा के अभिलेखों में 'न' ही मिलता है, 'ण' नहीं । इससे यह प्रमाणित होता है कि जैन शौरसेनी प्राकृत अभिलेखीय प्राकृत से परवर्ती मागधी (पालि) और

अर्द्धमागधी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है ।

मेरी दृष्टि में क्षेत्रीय बोलियों की दृष्टि से प्राकृतें संस्कृत भाषा से प्राचीन हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में वे उससे परवर्ती हैं । संस्कृत भाषा चाहे वह आर्षग्रन्थों की भाषा रही हो या परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा रही हो, वे व्याकरण के नियमों से बद्ध है और उनमें किसी सीमा तक एकरूपता है, जबकि प्राकृतें क्षेत्रीय बोलियों से उद्भूत होने के कारण बहुविध है । चाहे संस्कृत व्याकरण को आदर्श या मॉडल मानकर उनके व्याकरणों की संरचना हुई हो, फिर भी बहुविधता को बनाये रखा गया है, अतः विभिन्न प्राकृतों के शब्दरूपों में आंशिक समरूपता और आंशिक भिन्नता मिलती है । यहां यह ज्ञातव्य है – साहित्यिक प्राकृत ग्रन्थों की रचना पहले हुई और उनके शब्द-रूपों को समझाने के लिये व्याकरण ग्रन्थ बाद में बने । कोई भी प्राकृत व्याकरण ५वीं–६ट्ठी शती से पूर्व का नहीं है । प्राकृतों के व्याकरण प्राकृत ग्रन्थों से परवर्ती काल के ही हैं ।

दूसरी बात यह है कि प्राकृत के शब्दरूपों को समझाने के लिए उनमें जो नियम बनाये गये वे संस्कृत के शब्दरूपों को आदर्श या मॉडल मानकर ही बनाये गये । अतः प्राकृत व्याकरणों में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' – इस सूत्र का अर्थ केवल इतना ही है कि इस प्राकृत के शब्दरूपों को समझाने का आधार संस्कृत है। जो लोग इस सूत्र के आधार पर यह अर्थ लगाते हैं कि संस्कृत से विकृत होकर या उससे प्राकृत का जन्म हुआ, वे भ्रान्ति में हैं। संस्कृत और प्राकृत शब्द ही इस बात के प्रमाण है कि कौन पूर्ववर्ती है । प्राकृतें पुराकालीन क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उनका संस्कार करके ही संस्कृत भाषा का विकास, मानवसभ्यता के विकास के साथ हुआ है । वैज्ञानिक दृष्टि से मानवसभ्यता कालक्रम में विकसित हुई है । अतः उसकी भाषा भी विकसित हुई है । ऐसा नहीं है कि आदिम मानव शुद्ध संस्कृत बोलता था और फिर उसके शब्दरूपों या उच्चारण में विकृति आकर प्राकृतें उत्पन्न हो गई । अतः प्राकृत व्याकरणों में जहां भी सामान्य प्राकृत के लिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' शब्द आया है – वह यही सूचित करता है कि संस्कृत को अथवा अन्य किसी प्राकृत को आदर्श या मॉडल मानकर उस व्याकरण की संरचना की गई है । इसी प्रकार विभिन्न

प्राकृतों के पारस्परिक सम्बन्ध समझाने के लिए जब 'शेषं शौरसेनीवत्' आदि सूत्र आते हैं तो उनका तात्पर्य भी मात्र यही है कि उसके विशिष्ट नियम समझाये जा चुके हैं, शेष नियम शौरसेनी आदि किसी भी आदर्श प्राकृत के समान ही है । उदाहरण के रूप में हेमचन्द्राचार्य जब मागधी या आर्षप्राकृत के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि – 'शेषं प्राकृतवत्' तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि मागधी प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत या सामान्य प्राकृत से विकसित हुई । क्षेत्रीय बोलियों में चाहे कालक्रम में परिवर्तन आये भी हों और अपनी समीपवर्ती बोलियों से प्रभावित हुई हो, किन्तु कोई भी किसी से उत्पन्न या विकसित नहीं हुई है । सभी प्राकृतें अपनी क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई है । यद्यपि क्षेत्रीय बोलियों के रूप में प्राकृतों का कालक्रम निश्चित करना कठिन है । किन्तु अभिलेखों एवं ग्रन्थों के आधार पर इन विभिन्न प्राकृतों के कालक्रम के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है :-

१. अशोक के अभिलेखों की प्राचीन मागधी उपलब्ध प्राकृतों में सबसे प्राचीन है । उससे कुछ परवर्ती खारवेल के अभिलेख की भाषा है। जिसमें मागधी के साथ-साथ उड़ीसा की तत्कालीन क्षेत्रीय बोली का प्रभाव है । ई.पू. तीसरी शताब्दी से प्रथम शती तक इनका काल है ।

२. इन अभिलेखों के लगभग समकालीन या कुछ परवर्ती पाली त्रिपिटक एवं अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ आचारांग, इसिभासियाइं आदि के पूर्ववर्ती संस्करणों की भाषा है। इसके प्रमाण कुछ प्राचीनतम हस्तप्रतों में आज भी अधिकांशतः सुरक्षित हैं। इनका काल भी प्रायः पूर्ववत् ई.पू. ही है ।

३. तीसरे क्रम पर प्रज्ञापना आदि परवर्ती अर्धमागधी आगमों की तथा आगमतुल्य शौरसेनी के ग्रन्थों की एवं मथुरा के प्राचीन अभिलेखों की भाषा है । पैशाची प्राकृत भी इन्हीं की प्रायः समकालिक है । इसके अतिरिक्त कुछ प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें भी इसी काल की है । इस काल का प्राचीन आदर्श ग्रन्थ 'पउमचरियं' है । इनका काल ईसा की प्रथम शती से पांचवीं शती के मध्य माना जाता है।

कालक्रम का यह निर्धारण अनुमानित ही है । इसको एक-दो शती आगे-पीछे किया जा सकता है ।

मागधी एवं अर्धमागधी क्यों प्राचीन हैं ? क्योंकि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये थे । इस सम्बन्ध में 'अर्धमागधी आगम' साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं । यथा :-

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खई । - समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२

२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुत्तस्स अद्धमागहाए भासाए भासिता अरिहा धम्मं परिकहेई । - औपपातिक सूत्र १

३. गोयमा ! देवा णं अद्धमागहीए भासाए भासंति स वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति । - भगवई, लाडनूँ, शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३

४. तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तमाहणस्स देवाणंदामाहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए ... सव्वभाषाणु-गमिणिय सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासए धम्मं परिकहेई । - भगवई, लाडनूँ, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९

५. तए णं समणे भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स ... अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहेइ । - भगवई, लाडनूँ, शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३

६. सव्वसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं । - आचारांगचूर्णि, जिनदासगणि, पृ. २५५

न केवल श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों में अपितु दिगम्बर परम्परा के शौरसनी ग्रन्थों में भी यह उल्लेख मिलते हैं कि भगवान महावीर के उपदेश की भाषा अर्धमागधी ही थी । आचार्य कुन्दकुन्द की कृति के रूप में मान्य बोधपाहुड की ३२ वीं गाथा में तीर्थंकरों के अतिशयों की चर्चा है । उसकी टीका में श्रीश्रुतसागरजी लिखते हैं कि - 'सर्वाऽर्धमागधीया भाषा भवति' अर्थात् उनकी सम्पूर्ण वाणी अर्धमागधी भाषा रूप होती है । पूज्य जिनेन्द्रवर्णी जिनेन्द्र

सिद्धान्तकोश भाग २ पृ. ४३१ पर भगवान के दिव्यध्वनि की चर्चा करते हुए दर्शन-प्राभृत एवं चन्द्रप्रभचरित (१८/१) के सन्दर्भ देकर लिखते हैं कि - 'तीर्थंकर की दिव्यध्वनि आधी मगधदेश की भाषारूप और आधी सर्वभाषारूप होती है' । आचार्य प्रभाचन्द्र नन्दीश्वर भक्ति के अर्थ में लिखते हैं कि- 'उस दिव्यध्वनि का विस्तार मागध जाति के देव करते हैं, अतः अर्धमागधी देवकृत अतिशय है' । श्रीविद्यासागरजी के शिष्य श्रीप्रमाणसागरजी अपनी पुस्तक जैनधर्म-दर्शन (प्रथम संस्करण) पृ. ५० पर लिखते हैं कि - 'भगवान महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ' आदि । इस प्रकार जैन परम्परा समग्र रूप से यह स्वीकार करती है कि भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी थी । क्योंकि उनका विचरण क्षेत्र प्रमुखतया मगध और उसका समीपवर्ती क्षेत्र था । यही कारण था कि उनकी उपदेश की भाषा आसपास के क्षेत्रीय शब्दरूपों ये युक्त मागधी अर्थात् अर्धमागधी थी । वक्ता उसी भाषा में बोलता है जो उसकी मातृभाषा हो या श्रोता जिस भाषा को जानते हों । अतः भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी ही रही होगी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्धमागधी भाषा का उद्‌भव ई.पू. पांचवीं-छट्ठी शती में भगवान महावीर के उपदेशों की भाषा के रूप में हुआ, जो कालान्तर में अर्धमागधी आगम साहित्य की भाषा बन गई । जब हम अर्धमागधी भाषा के विकास की बात करते हैं तो उस भाषा के स्वरूप में क्रमिक परिवर्तन कैसे हुआ और उसमें निर्मित साहित्य कौन सा है, यह जानना आवश्यक है । मेरी दृष्टि में यह एक निर्विवाद तथ्य है कि व्याकरण के नियमों से पूर्णतः जकड़ी हुई संस्कृत भाषा को छोड़कर कोई भी भाषा दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह पाई । स्वयं संस्कृत भी दीर्घकाल तक एकरूप नहीं रह पाई। उसके भी आर्ष संस्कृत और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत ऐसे दो रूप मिलते ही हैं । वे सभी भाषाएं जो लोक बोलियों से विकसित होती है । सौ-दो सौ वर्ष तक भी एकरूप नहीं रह पाती हैं । वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के साहित्यिक रूपों में कैसा परिवर्तन हुआ, यह हम सामान्य रूप से जानते ही हैं । अतः अर्धमागधी भी चिरकाल तक एकरूप नहीं रह पायी । जैसे-जैसे जैन धर्म का विस्तार उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ, उस पर शौरसेनी

एवं महाराष्ट्री के शब्दरूपों का प्रभाव आया तथा उच्चारण में शैलीगत कुछ परिवर्तन भी हुए । अर्धमागधी के साथ सबसे दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह रहा कि वह भगवान महावीर के काल से वलभी की अन्तिम वाचना के काल (वीरनिर्वाण ९८० वर्ष / ९९३ वर्ष) अर्थात् एक हजार वर्ष तक मौखिक रूप में ही प्रचलित रही । इसके कारण उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन आये और अन्ततोगत्वा वह शौरसेनी से गुजरकर महाराष्ट्री प्राकृत की गोदी में बैठ गई ।

विभिन्न प्राकृतों के सहसम्बन्ध को लेकर विगत कुछ वर्षों से यह भ्रान्तधारणा फैलाई जा रही है कि अमुक प्राकृत का जन्म अमुक प्राकृत से हुआ । वस्तुतः प्रत्येक प्राकृत का जन्म अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों से हुआ हैं । समीपवर्ती क्षेत्रों की बोलियों में सदैव आंशिक समानता और आंशिक असमानता स्वाभाविक रूप से होती है । यही कारण था कि अचेल परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में भी कुछ लक्षण अर्धमागधी के और कुछ लक्षण महाराष्ट्री प्राकृत के पाए जाते हैं, क्योंकि यह मध्यदेशीय भाषा रही है । उसका सम्बन्ध पूर्व और पश्चिम दोनों से है, अतः उस पर दोनों की भाषाओं का प्रभाव आया है । प्राकृतें आपस में बहनें हैं - उनमें ऐसा नहीं है कि एक माता है और दूसरी पुत्री है । जिस प्रकार विभिन्न बहनें उम्र में छोटी-बड़ी होती हैं, वैसे ही साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर उनमें कालक्रम हो सकता है । अतः हमें यह दुराग्रह छोड़ना होगा कि सभी प्राकृतें मागधी या शौरसेनी से उद्भूत हैं । प्राकृतें मूलतः क्षेत्रीय बोलियाँ हैं और उन्हीं क्षेत्रीय बोलियों को संस्कारित कर जब उनमें ग्रन्थ लिखे गये तो वे भाषाएँ बन गई । अर्धमागधी के उद्भव और विकास की यही कहानी है ।

C/o. प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर (म.प्र.)